4. रीति-सिद्धान्त

'रीति' तत्त्व काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस प्रकार ईश्वर की निर्माण-शक्ति से निर्मित लावण्यवती नारी अनिर्वचनीय सौन्दर्य को प्राप्तकर सहृदय मानव के विलास एवं आकर्षण की वस्तु होती है, उसी प्रकार लोकोत्तर काव्य-निर्माण-कुशल-कवि द्वारा निर्मित कविता सहृदय के हृदय में रस-निष्पत्ति कर उसे आनन्द के सागर में निमग्न कर देती है। यह आनन्द कवि की रीति या शैली पर विशेष निर्भर रहता है क्योंकि कविता कामिनी का यह भव्य-भवन रीति पर खड़ा होता है।

आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है- 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं- ''रीतिरात्मा काव्य रूप'' साथ ही, काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर ही आश्रित मानते हैं।

रीति का स्वरूप

'रीति' शब्द रीड्. (गतौ) धातु से निष्पन्न हुआ है। भोज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है-

रीड्.गताविति धातोःव्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।

इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- गति, गमन मार्ग या वीथि, किन्तु काव्य में यह पद्धति, विधि, परम्परा आदि अर्थों में रूढ़ है। काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द का प्रयोग कवि को विशिष्ट रचना-प्रकार के लिए किया जाता है। वामन ने 'रीति' शब्द से विवेचन किया तो पूर्ववर्ती आचार्यों ने मार्ग का प्रयोग किया है, कोई इसे संघटनास्वरूप मानता है तो कोई व तियों से अभिन्न। इस प्रकार इस काव्य-सिद्धान्त के लिए काव्यशास्त्रीय परम्परा में अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन रीति शब्द ही अधिक प्रचलित रहा है।

यद्यपि रीतियों का संक्षिप्त विवेचन मार्ग नाम से भामह और दण्डी ने भी किया है और दण्डी का विवेचन अत्यन्त व्यापक एवं व्यवस्थित भी है, किन्तु न उन्होंने उसकी परिभाषा दी है और न ही महत्त्व का उद्घाटन किया है। वामन ने 'रीति' शब्द का प्रयोग करते हुए उसकी परिभाषा दी है और उसे काव्य की आत्मा कहा है, इसलिए वामन को ही रीति-सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है।

वामन ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'विशिष्टपदरचनारीति'; अर्थात् विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। विशिष्ट की व्याख्या उन्होंने स्वयं इन शब्दों में की है- 'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् जो गुणों से सम्पन्न हो। जिस समय आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का उद्घोष किया, उस समय तक काव्य में अलंकार ही सौन्दर्य-तत्त्व माने जाते थे। रस तत्त्व की सत्ता केवल नाटक तक मानी जाती थी और ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था। उस समय रीति एक स्वतंत्र सिद्धान्त था और स्वयं ही अपना साध्य था, लेकिन ध्वनि की स्थापना के बाद रीति की सत्ता डगमगायी और ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों के समान रीति को भी साधन घोषित कर दिया। उनकी द ष्टि

में रस ही साध्य बना और अलंकार, रीति, गुण, छन्द आदि सभी तत्त्व रस की अभिव्यक्ति के साधन घोषित कर दिए गए। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है। इस प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित रीति-सिद्धान्त स्वतंत्र सिद्धान्त न रहकर रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र बन गया।

आनन्दवर्द्धन ने रीति को संघटना-स्वरूप माना है। संघटना अर्थात् सम्यक् पद-रचना। यह संघटना तीन प्रकार की हो सकती है- समासों से रहित, मध्यम समासों से युक्त और दीर्घ समासों से युक्त। रीति के स्वरूप के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि यह संघटना गुणों का आलम्बन करके रहती है और रसों को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन की द ष्टि में रीति का आधार समास है और केवल समासों की मात्रा के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जा सकता है।

आचार्य राजशेखर ने रीति को वचनविन्यासक्रम माना है - 'वचनविन्यासक्रमोरीतिः' अर्थात् वचनविन्यास का क्रम ही रीति है। यह परिभाषा वामन से बहुत भिन्न नहीं, केवल शाब्दिक अन्तर है। राजशेखर ने यह विवेचन काव्यपुरुष रूपक के अन्तर्गत किया है, इसलिए पद के स्थान पर वचन शब्द रखा है। आचार्य मम्मट ने रीति और व त्ति को एक मानते हुए उपनागरिका, परुषा और कोमला व त्तियों को ही वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति माना है। मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही व त्ति (रीति) है।

''व त्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः''।

इस प्रकार मम्मट रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन तो मानते हैं किन्तु उसका आधार समास न मानकर वर्ण गुम्फ मानते हैं। उनके अनुसार रीति वर्ण-संगुम्फन का ही नाम है।

आचार्य विश्वनाथ ने रीति-विवेचन में आनन्दवर्द्धन को ही प्रमाण माना है। वे उसका स्वरूप इस प्रकार बताते हैं-

पदसंघटना रीति रङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् x x ।।

पदों की उचित योजना ही रीति है। पदसंघटना से वर्ण-गुम्फ तथा समास दोनों ही ग्राह्य है। जिस प्रकार नारी के शरीर के अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन शोभादायक होता है, बाह्य होते हुए भी उसके व्यक्तित्व-आत्मा का उत्कर्ष करता है, उसी प्रकार रीति रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अनामतः और दण्डी ने मार्ग नाम से रीति-विवेचन किया है। इन दोनों ही आचार्यों ने रीति के दो भेद किए हैं। 'वैदर्भ' और 'गौड़ीय'। पदों की कोमलता, एकरूपता एवं संश्लिष्टता, अर्थ की सुबोधता एवं परिपूर्णता, भावों की उदात्तता एवं मधुरता, संगीतात्मकता तथा साद श्य मूलक अलंकारों की योजना वैदर्भ मार्ग की तथा उद्धत एवं समास-बहुल पदयोजना, अनुप्रास-प्रयोग एवं आडम्बरपूर्ण शब्दों की अधिकता तथा अतिशयोक्तिपूर्ण शैली गौड़ीय मार्ग की विशेषताएँ उन्होंने मानी हैं।

उसके उपरान्त रीति-विकास में वामन का नाम उल्लेख्य है। 'रीति' शब्द के प्रयोग का श्रेय वामन को ही है। उन्होंने दो के स्थान पर तीन रीतियाँ स्वीकार की हैं- वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली। दोषों की मात्रा से रहित तथा समस्त गुणों से युक्त, वीणा के स्वर के समान मधुर लगनेवाली वैदर्भी, अत्यधिक समासयुक्त, उत्कट पदों से युक्त, ओज और कान्ति गुणों से समन्वित गौड़ीय तथा गाढ़बन्ध से रहित एवं शिथिल पदवाली, माधुर्य एवं सौकुमार्य से युक्त रचना को पांचाली कहते हैं। वामन का मत है कि इन तीनों रीतियों के अन्दर सम्पूर्ण काव्य उसी प्रकार समाविष्ट हो जाता है, जैसे रेखाओं में चित्र।

रीति-विकास में रुद्रट का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने वामन की तीन रीतियों में 'लाटीया' नाम चतुर्थ भेद जोड़ा और उन्हें समास के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है- समासवती और असमासवती। असमासवती से तात्पर्य वैदर्भी से है और समासवती के तीन भेद किए गए हैं- पांचाली, लाटीया, और गौड़ीया। इस प्रकार उनके द्वारा विवेचित रीतियों का स्वरूप इस प्रकार है- (क) वैदर्भी- पूर्णतः समास-रहित, (ख) पांचाली- अल्पसमासयुक्त, (ग) गौड़ीया- दीर्घसमासयुक्त। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में वामन की तीन रीतियों को ही मान्यता प्रदान की है, किन्तु इसे प्रकारान्तर से व्यक्त किया है। 'काव्य-मीमांसा' के त तीय अध्याय में काव्यपुरुष की उत्पत्ति और साहित्य-विधावधु के साथ बत्सगुल्म नगर में उसका विवाह दिखाया गया है।

कुन्तक ने प्रादेशिकता के आधार पर रीतियों के नामकरण का खण्डन करते हुए उनका सम्बन्ध कवि-स्वभाव से माना है। कवियों का सम्बन्ध अनेक प्रकार का हो सकता है और उनके सूक्ष्म-भेदों का विवेचन एक दुष्कर कार्य है, तथापि स्वभाव को तीन रूपों में विभाजित किया गया है, जिनके आधार पर तीन मार्ग माने गए हैं। ये मार्ग हैं- सुकुमार, विचित्र और मध्यम। सुकुमार में कोमल असमस्त पदों का प्रयोग होता है तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य- इन चार में असाधारण गुणों का समावेश रहता है। विचित्र मार्ग में अलंकार-वैचित्र्य का समावेश होने से अप्रस्तुत पक्ष की प्रबलता रहती है। मध्यम मार्ग में दोनों मार्गों की विशेषताएँ एवं विचित्रताएँ होने से क त्रिम और सहज दोनों प्रकार की शोभाएँ प्राप्त होती हैं। इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक ने काव्य के सहज और आहार्य सौन्दर्य को विभाजन का आधार बनाया है, जो पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के आधार पर किंचित् भिन्न है। भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में रीति का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने गुण और समास दोनों की रीति का आधार स्वीकारते हुए छः रीतियाँ मानी हैं- वैदर्भी, पांचाली, गौड़ीया, लाटीया, आवन्तिका और मागधी। इसमें प्रथम तीन का विवेचन वामन ही कर चुके थे और चतुर्थ का रुद्रट। भोज के अनुसार लाटीया समस्त रीतियों के सम्मिश्रण से बनती है तथा पूर्व रीतियों में किसी एक का निर्वाह न होने पर मागधी नामक खण्ड रीति होती है। पांचाली और वैदर्भी की अन्तशलवर्तिनी आवन्तिका रीति होती है। भोज के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनके विवेचन में विस्तारप्रियता है, वैज्ञानिकता नहीं।

भोज के उपरान्त भारतीय काव्यशास्त्र में रसध्वनिवादियों की परम्परा आती है। इन सभी आचार्यों ने ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन को ही प्रमाण माना है। आनन्दवर्द्धन ने समाज को रीति का आधार मानते हुए संघटना (रीति) के असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा तीन भेद किए हैं। परवर्ती आचार्यों ने समास के स्थान पर वर्णगुम्फ को महत्त्व दिया।

तीन रीतियों का औचित्यः

आचार्य वामन द्वारा विवेचित तथा ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन द्वारा स्वीक त वैदर्भी, गौड़ीया (गौड़ी) तथा पांचाली तीन रीतियाँ मानना ही युक्तिसंगत है। रीति का आधार चाहे समास मानें या वर्णगुम्फ, इसके तीन ही भेद माने जा सकते हैं। यों तो भोज ने छः रीतियों का विवेचन किया है और शारदातनय ने एक सौ पाँच रीतियों का उल्लेख कर डाला, किन्तु अधिक भेदोपभेद करने से अनावश्यक विस्तार बढ़ता है और साथ ही विवाद भी। समास के आधार पर तीन ही रूप निश्चित होते हैं- समासों का अधिक प्रयोग। इन्हें ही आनन्दवर्द्धन ने क्रमशः असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा नाम दिया है। वर्णों के भी दो स्पष्ट रूप हैं, कोमल-वर्ण तथा परुष-वर्ण। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ण हैं जो न कोमल हैं और न परुष। अतः वर्णों के आधार पर भी रीति के तीन ही भेद ठहरते हैं। अतः स्पष्ट है कि रीति के तीन भेद मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। इसी व्यावहारिक द ष्टि से आचार्य मम्मट ने वामन के दस गुणों के स्थान पर केवल माधुर्य, प्रसाद

तथा ओज तीन गुणों को ही मान्यता दी है और उनके आधार पर क्रमशः उपनागरिका, कोमला और परुषा व त्ति नाम दिया है, तीन रीतियाँ मानी हैं।

तीन रीतियों के निश्चित हो जाने पर इनके स्वरूप पर भी संक्षिप्त द ष्टिपात कर लेना चाहिए-

वैदर्भी रीतिः श्रुतिपेशलता तथा संगीतात्मकता के कारण यह रीति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसमें माधुर्यव्यंजक वर्णों की योजना की जाती है जिसके लिए ट वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों को उनके अन्त्यवर्ण के साथ संयुक्त किया जाता है तथा रेफ का अनेकशः प्रयोग किया जाता है। इसमें ललित पदावली ही रखी जाती है, जिसके कारण श्रुतिपेशलता विद्यमान रहती है। माधुर्यव्यंजक वर्ण तथा ललित पदयोजना के कारण यह श ंगार, करुण, हास्य आदि रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। इसमें समासों को पूर्ण अभाव होता है अथवा अत्यल्प मात्रा हो सकती है। आचार्य दण्डी और वामन इसे श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दस गुणों से सम्पन्न मानते हैं तो मम्मट इसके मूल में माधुर्य गुण को ही प्रमुख मानते हैं। वामन ने इसे वीणा के स्वर के समान मधुर लगनेवाली बताया है। वैदर्भी रीति का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

रससिंगार मज्जनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।

यहाँ माधुर्य गुण की व्यंजना के लिए अन्त्य वर्णों से युक्त संयुक्ताक्षरों का प्रयोग दर्शनीय है, ट वर्ग का पूर्ण अभाव है।

गौड़ी रीतिः ओजपूर्ण वर्णों में गौड़ी रीति होती है। इसमें वर्गों के प्रथम एवं द्वितीय, त तीय एवं चतुर्थ वर्णों के संयुक्त रूप, द्वित्व प्रयोग, ट वर्ग, श-ष आदि के प्रयोगों का बाहुल्य रहता है। इसमें पदयोजना दीर्घ समासों से युक्त रहती है। वीर और रौद्र रस की तो यह जीवनी शक्ति है। लम्बे-लम्बे समास वातावरण को प्रकम्पित करते प्रतीत होते हैं। इसमें माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों का नितान्त अभाव रहता है, इसलिए इसे परुषा व त्ति भी कहा जाता है।

गौड़ी रीति का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

बोल्लहिं जो जय-जय मुण्ड रुण्ड प्रचण्ड सिर बिनु धावहीं।
खम्परिन्ह खग्ग अलुज्मि जुज्मुहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं।
बानर निशाचर निकर मर्दहिं राम बल दर्पित भए।
सग्राम अंगन सुभट सोवहिं राम सर निकरन्हि हए।

उक्त छन्द में ओजगुण की व्यंजना के लिए ट वर्ग, द्वित्व तथा महाप्राण वर्गों के साथ अल्प-प्राण वर्णों के संयुक्त प्रयोग दर्शनीय है। इन सभी ने मिलकर ओज की व्यंजना में बहुत सहायता की है जिससे वीर रस की अभिव्यक्ति सहज ही हो सकी है।

पांचाली रीतिः इस रीति का उल्लेख सर्वप्रथम वामन ने किया है। उन्होंने इसको माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त माना है तथा गाढ़बंध से रहित और शिथिल पदवाली बताया है। रुद्रट आदि परवर्ती आचार्यों ने इसमें लघु समासों का अस्तित्व स्वीकार किया है। वस्तुतः यह वैदर्भी और गौड़ी के मध्य की रीति है, जिसमें वर्णगुम्फ न माधुर्य-व्यंजन होता है और न ओजः प्रकाशकः इसमें न समासों का नितान्त अभाव होता है और न दीर्घ समासों की योजना। पदयोजना यथासम्भव कोमलता लिए रहती है, इसीलिए मम्मट आदि आचार्यों ने इसे कोमलाव त्ति भी कहा है। इसका प्रमुख गुण प्रसाद माना गया है।

पांचाली रीति का एक उदाहरण दर्शनीय है-

फागु के भीरे, अभीरन तें गहि गोविन्द लै गई भीतर गौरी।
नाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनी पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाई कह्यौ मुसकाई लला फिर आइयौ खेलन होरी।

पद्माकर के उक्त दोनों छन्दों में सुकुमारता तथा प्रसाद गुण दर्शनीय है। छन्द को पढ़ते जाइए और अर्थ स्पष्ट होता जाएगा।

वैदर्भी की सर्वोत्क ष्टता: वैदर्भी रीति के महत्त्व के विषय में आचार्यों की दो प्रकार की धारणाएँ हैं। प्रथम वर्ग में दण्डी, वामन और राजशेखर का नाम आता है, जिन्होंने वैदर्भी को सर्वोत्क ष्ट ही नहीं सिद्ध किया, प्रत्युत गौड़ी आदि को तुच्छ भी माना है। द्वितीय वर्ग में भामह तथा कुन्तक मतों में सभी का समान महत्त्व है।

आचार्य दण्डी ने श्लेष, समता आदि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण माना है। इन गुणों से सम्पन्न होने के कारण ही वैदर्भ काव्य सत्काव्य से अभिन्न है। गौड़ीय मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय होता है। यही कारण है कि वह हीन काव्य माना गया है।

दण्डी ने वैदर्भी मार्ग को श्रेष्ठ मानते हुए भी गौड़ीय तो तिरस्क त नहीं माना था, किन्तु वामन ने स्पष्ट शब्दों में वैदर्भी को ग्राह्या माना है। उनका तर्क है कि वैदर्भी रीति में श्लेष, समता आदि दसों गुण विद्यमान रहते हैं, अतः वह काव्य के लिए ग्राह्य है।

आचार्य भामह ने अपने समय की इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया है कि वैदर्भ मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है। उनका मत है कि गतानुगतिका के कारण बुद्धिहीन ही ऐसा मानते हैं। उनकी द ष्टि में दोनों का पार्थक्य सम्भव नहीं है।

कुन्तक भी वैदर्भी की श्रेष्ठता का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि वैदर्भी को श्रेष्ठ मानने से इन रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद हो जाएँगे- यह त्रैविध्य स्थापित करना अनुचित है। यदि वैदर्भी को उत्तम मान लिया जाए तो उसमें जितनी ह्रदयाह्लादकारिता स्वीकार की जाएगी, उतनी गौड़ी तथा पांचाली में नहीं। ऐसी स्थिति में उन दोनों रीतियों का विवेचन ही व्यर्थ हो जाएगा।

उक्त विवेचन पर द ष्टिपात करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने वैदर्भी की श्रेष्ठता के कारण उसकी ललित एवं श्रुति-मधुर पदयोजना को माना है। ये दोनों तत्त्व उसे संगीतात्मकता प्रदान करते हैं। इसके साथ ही वैदर्भी रीति कोमल रसों-श ंगार, हास्य आदि की अभिव्यक्ति का साधन मानी जाती है।

रीति और शैली

रीति का जो विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत किया गया है, उसका अन्तिम रूप यही है कि रचना, वर्ण-योजना, संघटना आदि का ही दूसरा नाम रीति है। उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली का जो विवेचन हुआ है, वह रीति के ठीक अनुकूल तो नहीं परन्तु है उसके आस-पास ही।

रीति और शैली में बहुत अन्तर नहीं है। शैली को भी अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है, जैसे- शैली विचारों का परिधान है, अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है, शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार शैली में दो मूल तत्त्व कार्य करते हैं- एक व्यक्ति तत्त्व और दूसरा वस्तु तत्त्व।

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने शैली के वस्तु तत्त्व का सम्यक् विवेचन किया है। व्यक्ति तत्त्व शैली का मुख्य तत्त्व है जिसका भारतीय आचार्यों ने पर्याप्त विवेचन और स्पष्टीकरण किया है। दण्डी और कुन्तक ने कवि-सवभाव को रीति का मूल आधार माना है।

वस्तुतः रीति और शैली का वस्तुरूप एक ही है, किन्तु दोनों में भेद है-

1. रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं, शैली के नहीं।
2. भारतीय रीति में व्यक्तित्व की सर्वथा अस्वीक ति नहीं है।
3. रीति के लिए प्रयत्न अपेक्षित है, जबकि शैली सहज स्वाभाविक रूप को ही प्रकट करती है।
4. रीति परम्परा की सूचक है जबकि शैली स्वच्छन्दता की।

काव्य गुण

आचार्य भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय माना है -

''गुणा विपर्याद एषाम माधुर्यो दार्यलक्षणाः।''

उत्तर ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण माना है। 'महान् निर्दोषता गुणः'। डॉ० नगेन्द्र ने भरत के मत को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है- ''दोषों के विपर्ययरूप गुण काव्य-शैली को सम द्ध करनेवाले तत्त्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।''

आचार्य दण्डी ने दस गुणों का विवेचन तो किया है, परन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं दिया है।

आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गुण का लक्षण किया है ''शब्द अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाता है। x x x गुण नित्य हैं उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।''

आधुनिक युग के आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने गुण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है- ''गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्त्वों को कहते हैं जो मुख्यरूप से रस के और गौणरूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।''

वामन सम्मत गुण - आचार्य वामन ने दण्डी द्वारा मान्य गुणों को ही प्रायः व्यवस्थित रूप दिया है। दण्डी ने गौड़ी मार्ग के लिए गुण-विपर्यय की बात कही थी, जिसे वामन ने व्यर्थ का पक्ष धरता मानकर निषेध किया है। ''वामन ने दण्डी द्वारा प्रस्तुत गुणों के सामान्य लक्ष्य का भी परिष्कार किया है।'' वामन ने रीतियों के विभाजन तत्त्व के रूप में ही गुणों को विशिष्ट नहीं माना, अपितु इस रूप को भी विशिष्ट माना है कि वे काव्य के नित्य शोभादायक धर्म हैं। वे उपमादि अलंकारों की भाँति काव्य के अनित्य धर्म नहीं हैं।

वामन ने श्लेषादि दस गुणों को शब्दगत और अर्थगत भेद से दो रूपों में स्वीकार किया है। जैसे भरत ने एकाध गुण के शब्दगत और अर्थगत लक्षण कर दिए थे वैसे ही उनसे प्रेरणा लेकर वामन ने गुणों की संख्या बीस कर दी जो पहले शब्दगत और फिर अर्थगत रूप में क्रमशः माने गए-

1. ओज   2. प्रसाद
3. श्लेष   4. समता

5. समाधि 6. माधुर्य
7. सौकुमार्य 8. उदारता
9. कान्ति 10. अर्थव्यक्ति

इन गुणों के अर्थगत भेद भी इसी प्रकार स्वीकार किए गए। इस प्रकार 'वामन' शब्द की श्रुति-मात्र सुखदाता से लेकर अर्थ के वाच्य तथा व्यंग्यरूपों में भी गुणों का अधिकार क्षेत्र मानते हैं।

फिर भी वामन सम्मत दस गुणों का शब्दगत और अर्थगत विभाजन न तो वैज्ञानिक है और न व्यवस्थित। इसकी उन्होंने कोई आधारभूत कसौटी नहीं रखी। ध्वनि परवर्ती आचार्यों ने दस गुणों को प्रसाद, माधुर्य एवं ओज तीन गुणों में समाहित कर लिया है जो अभी तक मान्य है।

रीति सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के पश्चात् रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई। इस सम्प्रदाय की संस्थापना का श्रेय आचार्य वामन को है। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया। विशाल एवं सम द्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा में अम तानन्द योगी ही ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने रीति के आत्मत्व का समर्थन किया है। अन्य सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे रस का उपकारक ही माना है।

यद्यपि रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन माने जाते हैं, किन्तु रीति-विवेचन की परम्परा इनसे पूर्ववर्ती है इसमें संदेह नहीं। रीति विवेचन के संदर्भ में भारत की प्रव त्तियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। भरत ने चार प्रचलित प्रव त्तियों का उल्लेख किया है- आवन्ती, दक्षिणात्या, औड़मागधी और पांचाली। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि रीतियों के उद्भव और विकास में प्रव त्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा ग्रहण की गई है। मेरा विचार है कि रीति का प्रव त्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। नाट्य में लोकव त्त का अनुकरण होता है, अतः उसमें पात्र की स्थानीय विशेषताओं वेशभूषा, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। अन्यथा कथानक की विश्वसनीयता कम हो जाती है, जिससे उसका प्रभाव ही धूमिल हो जाएगा। इसे ध्यान में रखकर ही भरत ने प्रव त्तियों का निरूपण किया है। यदि नाट्य की बात छोड़कर लोक की बात ले लें तो अधिक स्पष्ट हो जाएगा। लोक में नाइयों की चालाकी, जाटों की अक्खड़ता, ब्राह्मणों की भोजन भट्टता और वेश्याओं की क पणता प्रसिद्ध है।

भारतवर्ष के विभिन्न भागों की साहित्यिक विशेषताओं का सर्वप्रथम उल्लेख बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में मिलता है। उनका कथन है कि उत्तर भारत के लोग श्लेष का प्रयोग करते हैं, पश्चिम भारत के अर्थगौरव को महत्त्व देते हैं। दक्षिण भारत के उत्प्रेक्षा का सम्मान करते हैं तथा गौड़ देश (पूर्व भारत) के आडम्बर पर ही मुग्ध होते हैं-

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्ये वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणत्येषु गौड़ेष्वक्षर म्बरम्।

उक्त छन्द से स्पष्ट होता है कि बाण के समय में भारतवर्ष में चार काव्य-पद्धतियाँ वर्तमान थीं, परन्तु बाण का अपना मत यही है कि इनका एक प्रयोग ही काव्य के उपादेय है-

नवो र्थो जातिरग्राम्या श्लेष क्लिष्टः स्फुटोरसः।
विकटाक्षरबन्धश्च क तस्नमेकत्र दुर्लभम्।।

नवीन भाव भंगिमा, अग्राम्य स्वभावकथन, सरलश्लेष, स्फुटरस तथा विकटाक्षरबन्ध, इन सम्पूर्ण गुणों का एकत्र प्रयोग दुर्लभ है। यदि इनका एकत्र प्रयोग होता है तो वही श्रेष्ठ काव्य है।

काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में रीति-विवेचन सर्वप्रथम भामह क त 'काव्यालंकार' में मिलता है। भामह ने न

रीति शब्द का प्रयोग किया है और न मार्ग या पन्थ का। उन्होंने न लक्षण प्रस्तुत किया है और न ही उसके भेदों को निरूपण। वस्तुतः उन्होंने इसको सैद्धांतिक मान्यता नहीं दी, बल्कि वैदर्भ काव्य को उत्क ष्ट और गौड़ीय को निक ष्ट माननेवाले को बुद्धिहीन माना है। उनका मत है कि अर्थगाम्भीर्य तथा वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल तथा कोमल वैदर्भ काव्य सत्काव्य से भिन्न, संगीत के समान केवल श्रुतपेशल होता है।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्यों में रीति-विवेचन की द ष्टि से आचार्य दण्डी का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। भामह का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त तथा चलते ढंग का है। संस्क त काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम दण्डी ने ही रीति का व्यवस्थित विवेचन किया है, इसलिए कुछ विचारक उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। इनका मत है कि वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। इनमें से वैदर्भ तथा गौड़ीय में स्पष्ट अन्तर होने से इनका वर्णन किया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन दोनों मार्गों के मध्य कवि-भेद से अनन्त अवान्त-प्रभेद हो सकते हैं, किंतु उनका वर्णन करना उसी प्रकार असम्भव है। जिस प्रकार ईख, दूध और गुण में विद्यमान माधुर्य में महान् अन्तर है, किंतु उनका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती। दण्डी का मत है कि वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस गुण पाए जाते हैं। ये ही वैदर्भी के प्राण हैं, जबकि गौड़ीय में इनमें से कुछ गुणों का विपर्यय या अभाव रहता है। उन्होंने दस गुणों का मार्ग-सापेक्ष विवेचन किया है, उससे दोनों मार्गों का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

वामन के पूर्ववर्ती रीति-विवेचन पर द क्पात करने के पश्चात् उनके निष्कर्षों को सूत्रबद्ध कर देना आवश्यक है, जिससे वामन के उस धरातल को खोजा जा सके, जिस पर उन्होंने रीति-सिद्धान्त का भवन स्थापित किया है। ये तथ्य निम्नलिखित हैं-

(क) रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग होता था और उनकी संख्या दो मानी जाती थी- वैदर्भ और गौड़ीय।

(ख) उस समय वैदर्भ मार्ग को गौड़ीय की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था। यद्यपि कुछ विचारक इस तथ्य का प्रबल खण्डन भी करते हैं, तथापि लोकधारणा वैदर्भ मार्ग की श्रेष्ठता के ही पक्ष में थी।

(ग) रीति का आधार गुण माना जाता था। वैदर्भ मार्ग में समस्त दस गुणों की सत्ता स्वीकार की जाती थी, जबकि गौड़ीय मार्ग में कुछ अभाव भी माना जाता था।

(घ) दोनों मार्गों का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया था। वैदर्भ मार्ग के तत्त्व थे - पद-योजना की कोमलता एवं मधुरता, भावों की स्वाभाविकता एवं रमणीयता, अर्थ की स्पष्टता एवं परिपूर्णता, जबकि गौड़ीय मार्ग के तत्त्व थे - कठोर और समास बहुत पद-योजना, अनुप्रास एवं आडम्बरपूर्ण रचना तथा अतिशयोक्तिपूर्ण शैली।

5. ध्वनि-सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों में सबसे प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनि सिद्धान्त है। यद्यपि इसका विरोध भी सबसे अधिक हुआ किन्तु इसके अनुयायियों की समर्थ व्याख्या तथा विरोधियों के तर्कों के खण्डन से यह अग्नि में पड़े हुए स्वर्ण के समान विशुद्ध एवं दीप्तिमान होता गया। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका लिखकर इस सिद्धान्त की सशक्त व्याख्या की। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि-विरोधी मुकुल भट्ट, महिमभट्ट, कुन्तक आदि की युक्तियों का सतर्क खण्डनकर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होनें व्यंजना को काव्य के लिए अपरिहार्य माना, इसीलिए उन्हें 'ध्वनि-प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में उक्त तीनों आचार्यों का क्रमशः स्थापना, व्याख्या तथा ध्वनि विरोधियों के खण्डन की द ष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनि सिद्धान्त का भव्य भवन व्यंजना की रमणीयता पर आश्रित है। ध्वनि-सौन्दर्य वस्तुतः व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य ही है।

ध्वनि का स्वरूप

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग व्यंजक शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार एवं व्यंजना-प्रधान काव्य, इन पाँचों अर्थों में किया गया है। अभिनवगुप्त का मत भी इसी प्रकार का है। इन पाँचों को ध्वनि मानने के लिए 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करनी होगी। यथा-

1. **व्यंजक शब्द**-उस व्यंजक शब्द को ध्वनि कहते हैं, जो अन्य अर्थ को ध्वनित करे या कराए-'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः ध्वनिः। इस व्युत्पत्ति के आधार पर वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीन प्रकार के शब्द ध्वनि कहे जाते हैं।

2. **व्यंजक अर्थ**-वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है, जो अन्य अर्थ का ध्वनित करे या कराए-'ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजको र्थः ध्वनिः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अर्थ को आधार बनाकर व्यंग्यार्थ अभिव्यक्ति पाता है, उस अर्थ को ध्वनि कहा गया है।

3. **व्यंग्यार्थ**-जो ध्वनित हो उसे ध्वनि कहते हैं- 'ध्वन्यते इतिध्वनिः' इन व्युत्पत्ति के अनुसार वस्तु, अलंकार एवं रस तीनों ही ध्वनि के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि तीनों ही ध्वनित होते हैं।

4. **व्यंजना-व्यापार**-जिसके द्वारा ध्वनित किया जाए, वह ध्वनि है- 'ध्वन्यते अनेनइतिध्वनिः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दार्थ के व्यापार अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनो ही ध्वनि है, क्योंकि जिस ''शब्द-शक्ति के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होगी, वह ध्वनि है।''

5. **व्यंजना-प्रधान काव्य**-जिस काव्य में रस, अलंकार एवं वस्तु ध्वनित होते हैं, वह काव्य ध्वनि-काव्य है - 'ध्वन्यते स्मिश्रिति ध्वनिः।

इस प्रकार ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है।

व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार तथा व्यंजना प्रधान काव्य। इन पाँचों को ध्वनि संज्ञा से व्यवहृत करते हुए भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-काव्य को ही प्रमुख माना है। ध्वनि

की परिभाषा देते हुए उन्होनें व्यंजना-प्रधान काव्य को ही ध्वनि नाम से अभिहित किया है। उनकी ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार है-

यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीक त स्वार्थो।
व्यङ्कतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः।

अर्थात् जिस काव्य में वाच्यार्थ या वाचक शब्द क्रमशः अपने स्वरूप या अपने अर्थ को गुणीभूत करके, उस प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि-काव्य कहते हैं।

आनन्दवर्द्धन के अनुसार अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ शब्दार्थ को कहते हैं। यह स्थूल, किन्तु व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का साधन होता है। जैसे घण्टे पर चोट करने से पहले अत्यन्त कर्कश स्थूल ध्वनि निकलती है और उसके बाद अत्यन्त श्रवण-सुखद मधुर अनुरण होता है, वैसे ही काव्य से पहले वाच्यार्थ सामने आता है और उसके बाद हृदयावर्जक व्यंग्यार्थ। ये दोनो अर्थ परस्पर प थक् अस्तित्व रखते हैं। जिस काव्य मे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त होता है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जहाँ वाच्यार्थ का प्रतीति का आधार है - अभिधा-शक्ति। वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त व्यंजना-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह व्यंग्यार्थ ही ध्वनि का मेरुदण्ड है। वाच्यार्थ सर्वजन-संवेद्य होता है, जबकि व्यंग्यार्थ मात्र सहृदयसंवेद्य। व्यंग्यार्थ के विषय में आनन्दवर्धन का मत है कि जिस प्रकार रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों (मुख, कान, नाम आदि) से भिन्न लावण्य एक प थक् ही पदार्थ है, जो उसके समस्त अंगो को शोभित करता है, उसी प्रकार महाकवियों के काव्य में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमानार्थ कुछ और ही तत्त्व है। जहाँ इस प्रतीयमानार्थ का प्राधान्य होता है, वही ध्वनि-काव्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ को ही काव्य का निकष माना है। उनकी यह धारणा काव्य-विभाजन से और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होनें काव्य के तीन भेद किए हैं-ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्त काव्य। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होता है, अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है, उसे ध्वनि-काव्य कहा गया है। यह उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो हो, लेकिन उसका प्राधान्य न हो, अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय एवं आह्लादक न हो, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है, यह मध्यम स्तर का होता है, जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही विद्यमान न हो, कवि मात्र शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार के लिए प्रयत्नशील रहा हो, उसे चित्र-काव्य कहा गया है, यह अधम कोटि का काव्य है। इस काव्य विभाजन से स्पष्ट है कि आचार्य आनन्द व्यंग्यार्थ को ही काव्यत्व का निकष मानते है। उसके प्राधान्य में उत्तमता, मात्र अस्तित्व होने पर मध्यम स्थिति मानी गई है और उसके सर्वथा अभाव में काव्य को निक ष्ट कोटि का माना गया है।

ध्वनि-सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

'ध्वन्यालोक' ध्वनि का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका में ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि काव्य के आधारभूत जिस तत्त्व को विद्वान लोग ध्वनि नाम से कहते आए हैं, कुछ लोग उनका अभाव मानते हैं, कुछ उसे लक्षणा-गम्य कहते हैं। तथा कुछ उसे सर्वथा अनिर्वचनीय स्वीकारते हैं। इस प्रथम कारिका से स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि का विवेचन हुआ है। विद्वानों का यह भी मत है कि वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्तों में ध्वनि का रूप सुरक्षित देखकर ही आनन्दवर्धन ने इसे प्राचीन एवं परम्परा-प्रसिद्ध माना है। जो भी हो, आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ की प्रथम कारिका मे ही ध्वनि-विरोधी मतों का सतर्क खण्डन किया है।

ये ध्वनि-विरोधी तीन प्रकार के माने गए हैं - अभाववादी, भक्तिवादी तथा अलक्षणीयतावादी। इन ध्वनि-विरोधियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. **अभाववादी**-अभाववादी वर्ग के तीन निम्न विकल्प हैं, जो इस प्रकार से हैः-

   (क) शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। इनमें अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्दगत चारुत्व के हेतु प्रसिद्ध है और उपमादि अर्थालंकार चारुत्व के। माधुर्यादि जो वर्ण-संघटनाधर्म है, उनकी भी प्रतीति होती है।

   (ख) शब्दार्थ काव्य का शरीर है। जो शब्द एवं अर्थ सहृदयों के हृदय को आह्लादित करते हैं- उन्हीं में परम्परा से काव्यत्व हो ही नहीं सकता।

   (ग) ध्वनि नामक कोई अपूर्व तत्त्व सम्भव ही नहीं हैं क्योंकि रमणीयता का अतिक्रमण न करने के कारण अन्य रमणीयता हेतुओं मे उसका अन्तर्भाव कर देना चाहिए, अन्यथा उन्हीं में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जाए तो उस पर बहुत कम कहना शेष रह जाएगा।

2. **भक्तिवादी**-ध्वनि विरोधी दूसरा भक्तिवादी है। ये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में मानते हैं। इन लोगो का मत है कि-व्यंजनावादियों के प्रयोजन (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति लक्षणा द्वारा ही हो जाती है। यद्यपि लक्षणावादी विचारकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग करके उसे पर्याय रूप में लक्षणा या गुणव त्ति का प्रयोग कहीं नहीं किया, तथापि लक्षणावादियों द्वारा व्यंजना की सत्ता न मानने के कारण ध्वनिकार के लिए यह आवश्यक हो उठा है कि वह लक्षणा एवं ध्वनि के अन्तर को स्पष्ट करके अपने सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना करे। अतएव आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी मतों में लक्षणावादी या भक्तिवादी मत का भी परिगणन किया है।

3. **अलक्षणीयतावादी**-अलक्षणीयतावादी मत ध्वनि को अलक्षणीय कहकर सहृदय-हृदय-संवेद्य मानता है। उनके अनुसार-पूर्ण परम्परा में प्रसिद्ध सौन्दर्य-तत्त्वों के अतिरिक्त कोई अपूर्ण तत्त्व विद्यमान तो है, लेकिन वह सहृदय-हृदय-संवेद्य है, उसकी किसी भी प्रकार परिभाषा नहीं की जा सकती। वह अनिर्वचनीय है, वाणी का विषय नहीं।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने तीन ध्वनि-विरोधी मतों का सतर्क खण्डन कर अपने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है। यहाँ संक्षेप मे ध्वनिकार द्वारा पूर्ववर्ती मतों का खण्डन दर्शनीय है-

ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारादि में सम्भव नहीं है, क्योंकि अलंकार-गुणादि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित रहते हैं, जबकि ध्वनि व्यंग्य व्यंजक भाव पर। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार-गुणादि में नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, गुण-अलंकार ही ध्वनि की अंगरूपता को प्राप्त कर जाते हैं।

पर्यायोक्ति, आक्षेप, समायोक्ति आदि अलंकारों मे व्यंग्यार्थ का अस्तित्व आवश्यक रहता है, लेकिन वह वहाँ प्रधानरूप मे न रहकर, गौणरूप में ही रहता है, जबकि ध्वनि में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य रहता है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व विद्वान काव्य का आस्वादन लेते थे, अतः ध्वनि की स्थापना एवं व्याख्या निरर्थक सिद्ध हो जाती है-ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ध्वनि की स्थापना से पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थों मे व्यंग्यार्थ का प्रयोग मिलता ही था। अतः आस्वादन करना स्वाभाविक है। इस ध्वनि का केवल शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। व्यंग्यार्थ का महत्त्व व्यंजना से की है-यही ध्वनि का मूलाधार है। आनन्दवर्धन ने इसकी सम्यक् परिभाषा दी है और उदाहरण देकर उसे परिपुष्ट किया है। अतः उसे मात्र सहृदय-हृदय-संवेध कहना या अलक्षणीय मानना उचित नहीं है। यदि ऐसी स्थिति में भी ध्वनि अलक्षणीय रहेगी तो सभी वस्तुएँ अलक्षणीय हो जाएँगी।

आनन्दवर्धन द्वारा इतने सबल एवं सशक्त तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित होने पर भी ध्वनि-सिद्धान्त को परवर्ती काल मे विरोधियों का सामना करना पड़ा। इन ध्वनि-विरोधियों में प्रमुख है- मुकुलभट्ट, भट्टनायक, धनंजय, कुन्तक तथा महिमभट्ट। आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'अभिधा-व त्तिमात का) में एकमात्र अभिधा को ही शक्ति स्वीकार किया है। उन्होनें अभिधा को चार भेदों-जाति, गुण, क्रिया एवं यद च्छा-में ही लक्षणा के छः भेदों को मिलाकर अभिधा के दस भेद किए हैं। इस प्रकार मुकुल भट्ट अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आवश्यकता ही नहीं स्वीकारते। हृदयदर्पणकार भट्टनायक रस के समर्थक एवं ध्वनि के प्रबल विरोधी हैं। मीमांसक भट्टनायक का भरत के रससूत्र के व्याख्याताओं में प्रमुख स्थान है। मीमांसा में भावना की प्रधानता होती है, इसलिए ये रससूत्र के व्याख्या भावना (भावकत्व एवं भोजकत्व) के आधार पर करते हैं, व्यंजना के आधार पर नहीं। रस-निष्पत्ति की व्याख्या में इन्होनें तीन शक्तियाँ मानी हैं-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

भट्टनायक ने इस साधारणीकरण द्वारा इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत किया कि प्रमाता धार्मिक अवतार शिव-पार्वती की रति का आनन्द कैसे ले सकता है। तदुपरान्त भोजकत्व शक्ति से प्रमाता रस का आस्वादन करता है। इस प्रकार वे रस-निष्पत्ति की व्याख्या भावकत्व एवं भोजकत्व शक्ति के आधार पर करते हैं। व्यंजना के आधार पर नहीं और व्यंजना के अभाव में ध्वनि का अस्तित्व ही विलीन हो जाता है।

इन सम्पूर्ण ध्वनि विरोधियों का सतर्क खण्डन आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में विस्तारपूर्वक किया है और व्यंजना की अपरिहार्यता सिद्ध की है। उनका मत है कि काव्य का प्रमुख प्रयोजन है रस। कभी अभिधा से वाच्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो रस या श ंगारादि से उसकी प्रतीति हो जाती, जबकि नाममात्र से रस-प्रतीति नहीं होती। जहाँ विभावादि का चित्रण नहीं है, वहाँ भले ही रस या श ंगारादि पदों का प्रयोग करें, पाठक को रसानुभूति नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ विभावादि का चित्रण होता है, वहाँ उक्त पदों के अभाव में भी रसानुभूति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि रसानुभूति विभावादि पर आश्रित है, रस या श ंगारादि पदों पर नहीं। अतः रस-प्रतीति के लिए व्यंजना का अस्तित्व मानना आवश्यक है। ध्वनि तत्त्व का विश्लेषण ही लक्ष्य माना है। ध्वनिवादी आचार्यों में आनन्दवर्धन संस्थापक तथा अभिनवगुप्त व्याख्याता हैं, लेकिन ध्वनि-विरोधियों का सतर्क खण्डन आचार्य मम्मट ने ही किया है, अतः उन्हें 'ध्वनि-प्रस्थानपरमाचार्य' कहा जाता है।

ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

अभिव्यंग्य के आधार ध्वनि को तीन भागों में विभाजित किया गया है। कहीं व्यंग्यार्थ वस्तुमात्र होता है, कहीं अलंकाररूप और कहीं रस-रूप। इसी आधार पर इन तीनों को वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रस-ध्वनि कहा जाता है। इन पर संक्षेप में विचार इस प्रकार है-

(क) **वस्तु ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ में किसी अलंकार की व्यंजना न हो, मात्र वस्तु या विचार ही व्यंजित हो रहा है, वहाँ वस्तु ध्वनि होती है। यथा-

रो-रोकर सिसक-सिसककर,
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अजजानी।

यहाँ व्यंग्यरूप में कोई अलंकार या रस व्यंजित नहीं हो रहा है, मात्र वस्तु ही व्यंजित हो रही है, अतः वस्तु-ध्वनि है।

(ख) **अलंकार-ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ में मात्र वस्तु ही नहीं, बल्कि अलंकार की भी व्यंजना हो रही है, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। यह ध्वनि वस्तु-ध्वनि की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी जाती है।

निस में ही ससि करतु हैं केवल भुवन प्रकाश।
तेरा जस निस-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास।

इस छंद का विश्लेषण भी पीछे किया जा चुका है। यहाँ व्यंग्यरूप में व्यतिरेक अलंकार व्यंजित हो रहा है, अतः अलंकार-ध्वनि है।

(ग) **रस-ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ वस्तु या अलंकाररूप न होकर रसरूप हो, वहाँ रस-ध्वनि होती है। यह ध्वनि तीनों में श्रेष्ठ होती है। रसभावादि में इसकी स्थिति रहती है-

लखि निर्जन भौंन उठी परजंक सौं बाल चली सनकै ललचायकै।
छल-सौं द ग मीलित पी मुखकौं, बड़ी देर लौं देखि हिये हुलसायकै।
मुख चुम्बन लेत, कपोल लखै, पुलकै भई नम्रमुखी सकुचायकै।
हंसिकै पिय ने तब भामिनी कौ अधराम त पान कियौ मनभाइकै।

यहाँ नव-वधु के संयोग-श ंगार का चित्र है। नायिका आश्रय है, नायक आलम्बन। रति स्थायी भाव है, एकान्तस्थल, तरुण एवं सुन्दर नायक की मनोरम मुखाक ति उद्दीपन है। नायक के मुख कपोलादि देखना, नम्रमुखी होना, आनन्दित होना अनुभाव है। शंका, औत्सुक्य, बीड़ा आदि संचारी भाव हैं। उक्त विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव ही वाच्यार्थ रूप में स्थित हैं, जिनसे रसरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ रस-ध्वनि है।

1. गुणीभूत - व्यंग्य काव्य

रमणियों के कमनीय कलेवर में प्रस्फुटित विलक्षण लावण्य के समान सहृदय-हृदयों के लिए आवर्जक जिस व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रतिपादन किया जाता है। उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि-काव्य कहा जाता है, परन्तु व्यंग्यार्थ के गौण हो जाने से वाच्यार्थ में रमणीयता का आधिक्य हो जाने पर काव्य गुणीभूत-व्यंग्य कहलाता है। जिन काव्योक्तियों में व्यंग्य का संस्पर्श मात्र भी रहे तथा जिनमें रूपकादि अलंकार भी हो, वे सभी गुणीभूत-व्यंग्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

गुणीभूत-व्यंग्य के आठ भेद कहे गए हैं। ये हैं - अगूढ़, अपरांग, वाच्यसिद्धयंग, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्याप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर। यहाँ इनके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

1. **अगूढ़ः** हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य विषयक यह दोहा बहुप्रचलित है।

   सर्व ढंके सोहै नहीं, उधरे होत कुबेस।
   अर्ध ढंके, छवि देत है कवि-आखर कुच केस।।

   तात्पर्य यह है कि कवि-अक्षर (कवि का प्रतिपाद्य) न तो इतना निगूहित हो कि सहृदय भी कठिनता से समझ सकें और न इतना सरल हो कि सर्वजन सुलभ हो, बल्कि मात्र सहृदय-संवेद्य हो।

2. **अपरांगः** अपरांग का अर्थ है दूसरे का अंग हो जाना अथवा अन्य किसी की पुष्टि करना। जहाँ रसादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनियाँ किसी अन्य रसादि ध्वनि का अंग हो जाती है अथवा कोई व्यंग्यार्थ किसी अन्य का अंग हो जाता है तो उसे ध्वनि कहा जा सकता, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने पर ही सम्भव है। अन्य का अंग हो जाने पर वह स्वभावतः ही गौण हो जाता है, अतः इसे गुणीभूत व्यंग्य में परिगणित किया जाता है।

3. **वाच्यसिद्धयंगः** वाच्यसिद्धयंग में व्यंग्यार्थ वाच्य की सिद्धि के लिए उसका अंग हो जाता है, अर्थात् वाच्य की सिद्धि बिना व्यंग्यार्थ के ग्रहण के सम्भव नहीं होती। अतः व्यंग्यार्थ जो वाच्य की सिद्धि के लिए उसका अंग बनता है, वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य कहलाता है। यथा

   करत प्रकाश सुदिसिन को, रही ज्योति अति जागि।
   है प्रताप तेरी न पति बैरी-बंस-दवागि।।

उक्त दोहे में बैरी के सामीप्य के कारण 'बंस' का अर्थ वंश हुआ, लेकिन इससे वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि दावाग्नि बैरी-वंश का क्या बिगाड़ सकती है।

4. **अस्फुटः** जहाँ व्यंग्यार्थ इतना निगूहित हो कि सहृदयों को भी उसकी प्रतीति कठिनता से हो सके, वहाँ अस्फुट गुणीभूत-व्यंग्य होता है। काव्य में व्यंग्यार्थ की स्थिति कामिनी क्रचकवश-न्याय से मानी जाती है।

5. **तुल्यप्राधान्यः** जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में समान चारुत्व होता है, वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है। इसमें वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों एक समान ही चमत्कारजनक होते हैं। संदिग्ध प्राधान्य में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की उत्क ष्टता का सापेक्षित निर्णय नहीं हो पाता, जबकि तुल्यप्राधान्य में वे निश्चितरूप से समान चमत्कारजनक कहे जा सकते हैं। यथा-

आज बचपन का कोमल गात,
जरा का पीला पात,
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात।

इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ यह है कि सभी दिन एक समान व्यतीत नहीं होते, उत्थान-पतन, विकास-हास यह तो स ष्टि का नियम है। इस व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ में समान ही चमत्कार विद्यमान है।

6. **सन्दिग्धप्राधान्यः** जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का स्पष्ट निर्णय न हो सके, यह संदेह बना रहे कि चमत्काराधिक्य किसमें है, वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य नामक गुणीभूत-व्यंग्य होता है। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का विवादास्पद होना ही उसे गुणीभूत-व्यंग्य बना देता है, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का विवादास्पद होना ही उसे गुणीभूत-व्यंग्य बना देता है, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ के प्राधान्य की स्थिति में ही हो सकता है।

थके नयन रघुपति छवि देखी।
पलकनहूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भई भोरी।
सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।

सीताजी भगवान् राम के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखकर उसी प्रकार भाव-विभोर हो गईं, जिस प्रकार चकोरी शरदकालीन चन्द्रमा को देखकर भाव-विभोर हो जाती है।

7. **काक्वाक्षिप्तः** काकु से तात्पर्य कण्ठ-ध्वनि से है। जहाँ व्यंग्यार्थ काकु से खींचकर ग्रहण किया जाए, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहलाता है। इसको गुणीभूत व्यंग्य में इसलिए परिगणित किया जाता है, क्योंकि यह सरलता एवं शीघ्रता से विदित हो जाता है। जहाँ काकु द्वारा विधि निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति के उपरान्त ध्वन्यर्थ निकलता है, वह देर से निकलता है तथा मात्र सहृदय-संवेद्य होता है। अतः वहाँ काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है, जबकि काक्वाक्षिप्त में व्यंग्य सरलता से निकलने के कारण सर्वजन संवेद्य होता है - दोनों में यही सूक्ष्म अन्तर हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

है दशसीस मनुज रघुनायक।
जाके हनूमान से पायक।

उक्त चौपाई का वाच्यार्थ है कि राम मानव है, लेकिन काकु के बल पर विधिपरक वाच्यार्थ से निषेधात्मक व्यंग्यार्थ निकलता है कि जिस व्यक्ति के स्वर्णिम लंका को जलाने

और अक्षय कुमार को मारनेवाले हनुमान जैसे दूत हैं, उसके योद्धाओं के विषय में क्या कहा जा सकता है। ऐसे लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न राम मानव नहीं हैं, वे निश्चय ही मानवेतर स ष्टि के जीव हैं।

8. **असुन्दरः** जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ कम चमत्कारजनक हो, असुन्दर हो, वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में ही अधिक चारुता रहती है यथा-

जड़े विहगजन कुंजते, यह धुनि सुनि तत्काल।
सिथलित तन विकसित भई, ग हकारजरत बाल।
वानीर कुब्जोड्डीन शकुनिकोलाहलं श ण्वन्तयाः।
ग ह कर्म व्याप्तताया वध्वाः सदिन्त्यंगनि।।

व्यंग्यार्थ यह है कि ग हवधु ने अपने उपपति से मिलने के लिए वेतसकुंज में संकेत स्थल निश्चित किया है।

चित्र काव्य

जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता, उसको चित्रकाव्य या अधम काव्य कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ का अभाव होता है, माधुर्यादि व्यंजक तथा अलंकारयुक्त शब्द एवं अर्थ की योजना रहती है। यह चित्रकाव्य भी दो प्रकार का होता है - शब्दचित्र एवं अर्थचित्र। जहाँ प्रधानतः शब्द चमत्कार विद्यमान होता है, वह शब्दचित्र कहलाता है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः अनुप्रास एवं यमक की शब्द-क्रीड़ा आती है। एक छन्द-

नेह बरसाने, तेरे नेह बरसाने, देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे,
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखें सुख पावैंगे,
तू ही उरबसी, उरबसी नाहीं और तिय,
कोटि उरबासी तजि तोसों चित्त लावैंगे,
सेज बनवा रही, बनवा री तन आभरन,
गोरे तन वारी बनवारी आजु आवैंगे।

यहाँ कवि का सम्पूर्ण ध्यान यमक पर केन्द्रित है।